❑ अजय राय

शांति निकेतन : एक परिदर्शन

होश संभालने के बाद से गुरुदेव की पुण्यभूमि शांति निकेतन का नाम मेरे रक्त में संगीत पैदा करता था। मैं तब इंतजार किया करता था कि कब मैं इतना बड़ा हो जाऊं कि बिना किसी खौफ के वहां पहुंच कर अपनी इच्छा पूरी कर लूं। मेरे बाल मन ने न जाने कब से सुन रखा था कि वहां चित्रांकन और संगीत की शिक्षा विधिवत् दी जाती है। तब मुझे सबसे प्रिय कार्य चित्र बनाना लगता था। हालांकि मेरे घर में ऐसी रुचियों के लिए न तो कोई स्थान था और नहीं कोई सम्मान। हां, मां ही मेरे लिए एक प्रेरणा की स्रोत थी जिसे मेरे लिए मां और पिता दोनों का दायित्व निभाना पड़ता। मेरी चित्रकला में रुचि को देखकर मेरे गांव के एक संपन्न व्यक्ति ने मुझसे बार-बार कहा था कि "तुम थोड़े बड़े हो जाओ तो मैं तुम्हें शांतिनिकेतन चित्रकला की शिक्षा के लिए भेजूंगा।" खैर, ऐसा संभव नहीं हो पाया। वादा करने वाले सज्जन तो भूल गये लेकिन मैं शांतिनिकेतन को किसी भी तरह नहीं भूल पाया और गुरुदेव की यह साधना-भूमि मुझे अपनी ओर बराबर ही खींचती रही।

कालांतर में मैं बिना किसी मार्गदर्शन के ही चित्र बनाने लगा था, लेकिन अपने चित्रों को सबकी नजरों से बचाकर ही रखना पड़ता क्योंकि बड़े चाचा जिन्हें संगीत एवं चित्र बकवास से ज्यादा कुछ नहीं लगते थे, उनके हाथों बुरी तरह पिट जाने का खतरा बना रहता। मेरी इस रुचि को सम्मान और प्यार मेरे ग्रामीण दोस्तों और विद्यालय के प्रिय शिक्षकों का मिलता रहता था। लेकिन घर में तो मेरे लिए खतरे बने ही रहते थे। किसी तरह मैं घर के प्रतिकूल वातावरण में चित्रकला सीखने की इच्छा को साकार तो नहीं कर पाया, अलबत्ता संगीत सीखने की रुचि मुझमें बढ़ती गई। एक ओर गांव के छोटे-मोटे गायन कार्यक्रमों में मुझे लोग उत्साहित करते रहते तो दूसरी ओर घर पर बड़े चाचाजी अपने चमरौधें जूतों के साथ मेरी पिटाई के लिए तत्पर रहते। जब मैं घर वापस आता तो वे तब तक पीटते जब तक मैं जमीन पर गंभीर चोटें खा गिर नहीं पड़ता। ऐसे में मां मुझे अवश्य ही हिम्मत देती कि 'बेटा एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब तुम संगीत सीख पाओगे और तुम्हें गुरुदेव के आश्रम में सीखने जरूर भेजूंगी।' वैसे लोग जिन्हें संगीत या चित्रांकन की महत्ता समझ में नहीं आती, 'वे समझ पाएंगे कि ऐसे गुण घटिया नहीं होते।'

असुविधाओं और गरीबी का यह आलम था कि ऐसे गुणों के विकास के लिए तत्काल मुझे विश्व कवि के आश्रम में कुछ भी सीख पाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया। अलबत्ता मेरे अंदर इसकी प्यास और लालसा बनी ही रही कि कभी न कभी गुरुदेव की साधना स्थली और विशिष्ट कर्मभूमि शांतिनिकेतन की लाल मिट्टी को माथे से लगा पाऊंगा।

वक्त के बहुत बड़े अंतराल के बाद मुझे शांतिनिकेतन की यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हालांकि न तो मैं अब ऐसा शिशु ही रहा था और नहीं ऐसा कुछ सीख पाने की मेरी परिस्थिति या समय था। व्यक्ति को आजीविका कई बार आत्म-भ्रष्ट करती है और ऐसी-ऐसी नौकरी से भी जुड़ना पड़ता है जो उसके सम्मान के लायक न भी हो।

इस यात्रा की कल्पना से ही मैं रोमांचित था। मैं बिहार से आने वाली गाड़ी से बोलपुर स्टेशन पर उतर रहा था। मैं अपनी मनःस्थिति और अतिशय उत्साह को तटस्थ द्रष्टा की तरह देख पा रहा था। मेरा हृदय और कंठ बार-बार अवरुद्ध हो जाता। बचपन की इच्छा का अधूरा रह जाना और उम्र के काफी बड़े हिस्से का मुट्ठी में बंधे रेत की तरह निकल जाना पीड़ित कर रहा था। फिर भी मैं प्रसन्न था कि देर आयत दुरुस्त आयत। मेरी आंखें बोलपुर स्टेशन के प्लेटफार्म नं० एक पर स्थित उस कलाकृति पर गई जो एक ठूंठ पेड़ से बनायी गयी है। मैं उसकी विशिष्टता को देखकर अवाक् रह गया था। प्लेटफार्म नं० एक पर ही गुरुदेव से संबंधित एक आदर्श संग्रहालय है जिसे संभवतः रेलवे ने यात्रियों की सुविधा के लिए बनवाया है। दूसरे प्लेटफार्म की ओर अगर दृष्टि दी जाय तो दीवारों पर विशिष्ट कलाकृतियां दीख जायेंगी। स्टेशन से बाहर आते ही गुरुदेव की अंतिम यात्रा जिस प्रथम श्रेणी के रेल कूपे में हुई थी उसे भी आम जनता के दर्शनार्थ प्रस्तुत किया गया है। यह सब देखकर मैं कवि गुरु के प्रति श्रद्धावनत तो था ही पूरी तरह मन-प्राण से अभिभूत हो गया।

बोलपुर शांतिनिकेतन का प्रवेश द्वार जैसा है। छोटा-सा कस्बानुमा शहर। छोटी-मोटी सवारियां रिक्शे, टेम्पू आदि। गांव की सौंधी मिट्टी की गंध और लोगों में ग्रामीण सरलता का भाव दीखा जो अन्यत्र अब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लभ ही प्रतीत होता है। मैं पैदल चलते हुए रेल में सुने गये 'बाउल गान' की एक कड़ी गुनगुनाता जा रहा था- 'एखोनो एलो न कालिया' हृदय में करुणा के भाव जगा रहे थे। एक हूक सी उठती थी। उन स्वरों के आरोह-अवरोह मुझे पूरी तरह अपने में समेटे हुए थे। दूसरी ओर मुझे अपने दिल्ली प्रवास के उन आपाधापी, भागदौड़ और हृदयहीनता से भरे वर्षों की भी याद दिला रहे थे, जिसमें मैं अक्सर 'एखेनो एलो न कालिया' गुनगुनाते हुए काट लिया करता था।

मैं अब शांतिनिकेतन परिसर के निकट था। सामने 'मेला माठ' में 'पौषमेला' लगा हुआ था। लोगों में उत्सव का आनंद पूरी तरह दीखता था। 'बाउल गान' के आलाप के साथ-साथ बाउल पूरी मस्ती में एकतारा लिए नृत्यरत थे। पौषमेला शांतिनिकेतन के मुख्य उत्सवों में से है। इसकी परिकल्पना गुरुदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने की थी और उसे विस्तार दिया विश्व कवि ने। इस मेले के आयोजन का उद्देश्य ग्रामीण शिल्प संस्कृति, संगीत, नृत्य आदि को बढ़ावा देने का रहा है। हमारी ग्रामीण संस्कृति धीरे-धीरे लुप्त न हो जाए, इसका अंदाजा बहुत पहले ही इन मनीषियों ने लगाया था। हालांकि मेले का रूप पहले से बदल-सा गया है, लेकिन पूरी तरह से चेष्टा यह की जाती है कि उसका असली स्वरूप कायम रहे। सुबह से रात के गहराने तक कई दिनों तक संगीत-नृत्य के अलग-अलग कार्यक्रम चलते रहते हैं, जिसमें मैंने देखा कि देश, विदेश से काफी लोग संगीत-नृत्य सुनने-देखने यहां आते हैं। यहां बाउल गान के साथ-साथ पल्लीगीत, कविगान आदि देख सुनकर मैं चकित था। मैंने पहले कहीं भी इतने स्वस्थ उद्देश्यों को लेकर लगाया जाने वाला मेला नहीं देखा था। आश्चर्य इस बात पर होता था कि कहीं इस तरह का भी उत्सव होता है? जहां जीवंतता, उत्साह और सर्वोत्तम अनुभूतियों के संप्रेषण के लिए खुला परिवेश हो। जबकि दूसरी ओर पूरे विश्व में इतनी बड़ी अफरातफरी और अशांति हो। आतंकवाद और हत्याओं के दौर चल रहे हों। अखबारों में छपने वाली हत्याओं, दुर्घटनाओं की खबरें भी लोगों के रक्त को सर्द ही बनाएं रखती हैं।

जी हां, शांतिनिकेतन की यात्रा ने हमारे अंदर प्राण का संचार किया और मैं आज की विषमता और विषाक्त परिवेश को भूल सा गया। कई बार उदासी और परेशानी के आलम में यह याद नहीं आता कि पिछली बार हम कब मुस्कुराए, रोए या खुलकर हंस पाये थे तब सिर्फ शांतिनिकेतन के खुले वातावरण की ही याद आती है।

मैं इस यात्रा में 'रवीन्द्र भवन' गया था। जहां गुरुदेव के देहावसान के बाद उनके पुत्र रथीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़ी तत्परता और परिश्रम से उनकी पांडुलिपियां, चिट्ठियां और चित्रावली आदि का संकलन किया है। सन् 1942 में संग्रहालय सामान्य जन के लिए खोला गया था, जिसमें गुरुदेव से संबंधित सभी वस्तुएं हैं। यहां से थोड़ी ही दूरी पर एक विशाल 'नाट्य-घर' भी देखा जा सकता है जो अपने आप में एक आश्चर्य ही है। गुरुदेव में अपनी संस्कृति और नाटकों की प्रस्तुति के लिए कैसा जुड़ाव था, यह जानना सच में बड़ी सुखद अनुभूति है।

यहां से करीब ही रामकिंकर बैज की बनाई हुई प्रसिद्ध मूर्तियां हैं जो कलाजगत में अपना अन्यतम स्थान रखती हैं। कलाभवन, संगीत-भवन आदि पर्यटकों का मन मोह लेते हैं। नंदलाल बोस, सुधीर खास्तगीर, के.जी. सुब्रह्मण्यम आदि की कलाकृतियां हमें प्रभावित कर रही थीं। उत्तरायण में मैंने रमणीक बगीचों के अलावा पांच भवन देखे जो अपने आप में शिल्प और भावना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये भवन हैं— उदयन, कोणार्क, श्यामली, पुनश्च तथा उदीची। बाग में पिछली तरफ जो भवन है उसका नाम है चित्रभानु। पहली मंजिल के 'गुहाघर' में कविवर के पुत्र रथीन्द्रनाथ तथा पतोहू प्रतिमादेवी का स्टुडियो और कला सर्जना के लिए कक्ष है। इस बाग में बहुत मूल्यवान पेड़ हैं, यथा- चंदन, दालचीनी, तेजपात आदि। इसके अतिरिक्त ऐसे कई पेड़-पौधे हैं जिन्हें कोई वनस्पति शास्त्री ही विशिष्टता के साथ बता सकता है। उत्तरायण में ही एक ऐसा भवन भी है, जिसकी सादगी देखते ही बनती है। इसका निर्माण गुरुदेव ने बापू (गांधीजी) के शांतिनिकेतन में आगमन की खुशी में उन्हें ठहराने के लिए करवाया था।

अगर आप कभी 'शाल-वीथी' जाएं जहां गुरुदेव शाम को घूमते थे तो अतीव आनन्द की अनुभूति पा सकते हैं, लेकिन शर्त यह है कि शाम ढले हौले-हौले, धीमी गति से बिना किसी पदचाप के अगर आप चलते जाएं तो शायद गुरुदेव की उपस्थिति की अनुभूति अवश्य ही हो सकती है। वहां निश्चय ही ऐसी तरंगे हैं जिसे शुद्ध हृदय और महसूस करने की विशिष्ट शक्ति से समझा जा सकता है। यहां से आम्रकुंज को पार करते हुए उस मंदिर को हम देख सकते हैं, जिसमें कोई देवी, देवता नजर नहीं आते, लेकिन घनी शांति वहां अवश्य ही महसूस की जा सकती है।

गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में शांतिनिकेतन को देखा जा सकता है। उन्होंने अशोक, देवदार और शिरीष के अंतर को जिस जीवंतता से पाठकों को परिचित कराया था, वाकई आश्चर्य की बात है। कुछ देर में मैंने अपने आपको 'हिन्दी भवन' के परिसर में खड़ा पाया। हिन्दी भवन की दीवारों पर बनी विशिष्ट पेंटिंग हमारा मन मोहती रही। मेरा हृदय इस अनुभूति से गद्‌गद् था कि हिन्दी जैसी भाषा को उत्कृष्ट संस्कार तथा संपन्नता देने वाले ऋषितुल्य आचार्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी हिन्दी भवन के प्रथम अध्यक्ष थे।

शांति निकेतन से मैं सीधा 'श्री निकेतन' गया जहां गुरुदेव ने कुटीर उद्योगों की स्थापना की थी। अभी भी वहां कपड़े, बर्तन, खिलौने आदि विशिष्टतम तरीके से बनाना सिखाया जाता है। वे सभी तमाम जगहें आज भी मेरे जेहन में बसी हुई हैं कि एक व्यक्ति ने इतनी बड़ी कल्पना की और उसे साकार कर दिखाया। यह अलग प्रश्न है कि उनके द्वारा स्थापित आश्रम कालांतर में केन्द्रीय विश्वविद्यालय बन जाने पर भी उन्हीं आदर्शों का पालन कर रहा है? क्या वहां नौकरशाही और घटिया स्वार्थी तत्वों ने अपने जाल नहीं फैलाए हैं? यह सच है कि यहां अब भी ऐसी तरंगे मौजूद हैं जो कल्याणकारी हैं, लेकिन वे कब तक रहेंगी?

मैं वहां से भीगी आंखें और भरा हृदय लेकर रेलगाड़ी में बैठ गया था और हरे-भरे खेतों की ओर देखते हुए गुनगुना रहा था।

''एखोनो एलो न कालिया''

सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, हवड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org